# अपनी बात

मेरे पास उपन्यास को परखने के लिए न तो शाश्वत मानदण्ड हैं और न ही इसकी निश्चित परिभाषा है। हर कृति, यदि वह अनुकृति नहीं है, अपने अपने कला नियमों को लिये हुए होती है। इसी तरह हर उपन्यास अपने अपने संसार तथा कला नियमों को लिये हुए है। इसकी राह से गुजरकर ही इसके स्वरूप को जाना तथा पहचाना जा सकता है। इसलिए मैंने आज के हिन्दी उपन्यास की राह से गुजरना आवश्यक समझा है—प्रेमचन्द के 'गोदान' से लेकर निर्मल वर्मा के 'वे दिन' तक।

आज के हिन्दी उपन्यास का सूत्रपात मैंने गोदान' से किया है। यह उसी तरह जिस तरह मैंने आज की हिन्दी-कहानी की शुरुआत पूस की रात' और 'कफन' से की है। यह उपन्यास केवल होरी का गोदान नहीं है, प्रेमचन्द की आश्रमवादी आस्था का भी गोदान है, आधुनिकता की चुनौती का परिणाम है। इसका दूसरा मोड़ अज्ञेय के 'शेखर' ने लिया है और तीसरा निर्मल वर्मा के 'वे दिन' ने। इसकी राह से गुजरने पर मुझे यह भी लगा है कि हिन्दी-उपन्यास को अभी तक अपना मुहावरा ही नहीं मिल सका है। कैसे नहीं मिला है—इसे समझने की कोशिश की है, और क्यों नहीं मिला है—इसका मेरे पास जवाब नहीं है। इतना कहा जा सकता है कि यह अपने मुहावरे की खोज में संलग्न अवश्य है।

चण्डीगढ़
१ अक्तूबर १९६६

—इन्द्रनाथ मदान

# अनुक्रम

## [इन उपन्यासों के आधार पर]

| | | | |
|---|---|---|---|
| १ | गोदान | प्रेमचन्द | १९३४ ३६ |
| २ | सुनीता | जैनेन्द्र कुमार | १९३८ |
| ३ | चित्रलेखा | भगवती चरण वर्मा | १९३४ |
| ४ | त्यागपत्र | जैनेन्द्र कुमार | १९३७ |
| ५ | संन्यासी | इलाचन्द्र जोशी | १९४१ |
| ६ | शेखर एक जीवनी १, २ | अज्ञेय | १९४१, १९४४ |
| ७ | बाणभट्ट की आत्मकथा | हजारी प्रसाद द्विवेदी | १९४६ |
| ८ | गिरती दीवारें | उपेन्द्रनाथ अश्क | १९४७ |
| ९ | रतिनाथ की चाची | नागार्जुन | १९४९ |
| १० | नदी के द्वीप | अज्ञेय | १९५१ |
| ११ | पथ की खोज दो भाग | देवराज | १९५१ |
| १२ | सूरज का सातवाँ घोड़ा | धर्मवीर भारती | १९५२ |
| १३ | बलचनमा | नागार्जुन | १९५२ |
| १४ | गंगा मैया | भैरवप्रसाद गुप्त | १९५३ |
| १५ | मैला आँचल | रेणु | १९५४ |
| १६ | चाँदनी के खण्डहर | गिरिधर गोपाल | १९५५ |
| १७ | काले फूल का पौधा | लक्ष्मीनारायण लाल | १९५५ |
| १८ | जहाज का पंछी | इलाचन्द्र जोशी | १९५५ |
| १९ | बूँद और समुद्र | अमृतलाल नागर | १९५६ |
| २० | सागर, लहरें और मनुष्य | उदयशंकर भट्ट | १९५६ |
| २१ | उखड़े हुए लोग | राजेन्द्र यादव | १९५६ |
| २२ | उसका बचपन | कृष्ण बलदेव वैद | १९५७ |
| २३ | पथ तक पुकारें | रांगेय राघव | १९५८ |

| | | |
|---|---|---|
| २४ झूठा सच १, २ | यशपाल | १६५८, १६६० |
| २५ अँधेरे बन्द कमरे | मोहन राकेश | १६६१ |
| २६ यह पथ बन्धु था | नरेश मेहता | १६६२ |
| २७ शहर में घूमता आईना | अश्क | १६६३ |
| २८ वे दिन | निर्मल वर्मा | १६६४ |



# आज का हिन्दी-उपन्यास

१ आज के हिन्दी-उपन्यास की बात तब बन सकती है जब इसे कल के उपन्यास से अलगाया जा सके। आज के उपन्यास का किस कृति से माना जाए—यह एक जटिल समस्या है और जटिल इसलिए कि कविता एवं कहानी के वज़न पर इस नये उपन्यास को संज्ञा देना उचित नहीं समझा गया है। इ साहित्यिक विधा में नवलता को न खोजा गया और न ही पाया गया है। इस लिए 'आज का उपन्यास' नाम अखर सकता है। इस उपन्यास की रचनाओं क देश की स्वाधीनता के बाद खोजना या आँकना उतना ही असंगत है जितना आज की या नयी कहानी को 'परिन्दे' से शुरू करना।[1] आज की कहानी क सूत्रपात जिस तरह 'पूस की रात' [१९३४] तथा 'कफन' [१९३६] से हु है, उसी तरह आज के हिन्दी उपन्यास को 'गोदान' [१९३६] से आरम्भ कर मुझे संगत जान पड़ता है। मुझे यह लगता है कि १९३४-३६ के आस-पास कथाधारा की संवेदना में मौलिक अन्तर आ चुका था और प्रेमचन्द ने अपनी संवेदना का खण्डन करना शुरू कर दिया था। 'पूस की रात', 'कफ तथा 'गोदान' तक आते-आते इनकी संवेदना बदल चुकी थी इनकी रच प्रक्रिया में भारी अन्तर आ गया था आधुनिकता की प्रक्रिया सृजन में अ पकड़ रही थी। इन कृतियों के अन्त में विराम चिह्न की जगह प्रश्न चि लगा हुआ है, इनमें समाधान का सन्तोष न होकर समस्या का असन्तोष आधुनिकता की चुनौती का साक्षात्कार है। प्रेमचन्द हल्कू के खेत का 'पूस रात' में नाल्गाय से चरा हुआ पाते हैं बदमस्त घीसू और माधव को 'कफ शराब के नशे में गिरा हुआ पाते हैं किसान के रूप में होरी को 'गोदान' अन्त में पराजित पाते हैं। इस तरह हल्कू घीसू माधव होरी आदि समस्याओं के समाधान पर प्रश्न चिह्न लग जाता है। यह उपन्यास केवल ह का गोदान नहीं है प्रेमचन्द की आस्था का भी गोदान है सदना निवृत आश्रमों में लगने की आस्था का गोदान है। इनका विश्वास सुधारवादी

---

1 नामवरसिंह, 'कहानी नयी कहानी' पृ० ६८।

गांधीवादी समाधानों से उठ गया है। इस संवेदना में मोहभंग की अनुभूति को आँका जा सकता है, पुरानी आस्था के टूटने के स्वरों को सुना जा सकता है, पुराने सत्य को खोने की पीड़ा का अनुभव किया जा सकता है। प्रेमचन्द की संवेदना नया मोड़ लेती है। इस उपन्यास के अन्तिम अंश में इस दिशा का संकेत मिल जाता है—धनिया यन्त्र की भाँति उठी, आज जो सुतली बेची थी, उसके बीस आने के पैसे लायी और पति के ठण्डे हाथ में रखकर सामने खड़े दातादीन से बोली—'महाराज, घर में न गाय है न बछिया, न पैसा है यही इसका गोदान है।'[१] धनिया का पछाड़ खाकर गिर पड़ना उस सन्त तथा आश्रम को ढह जाता है जिन्हें लेखक ने 'सेवासदन', 'रंगभूमि', 'प्रतिज्ञा', 'प्रेमाश्रम' कर्मभूमि आदि में खड़ा किया था। इस तरह प्रेमचन्द अपनी परम्परा से हटकर गोदान में हिन्दी उपन्यास को नया मोड़ देते हैं। यह मोड़ इसलिए नितान्त नया नहीं लगता कि इसके साथ मेहता मालती की कथा भी जुड़ी हुई है जिसमें प्रेमचन्द परम्परा के मूल्यों की मिलावट है आदर्शमूलक जीवन दृष्टि का अवशेष है समष्टि मंगल अथवा सामूहिक कल्याण की भावना को निरूपित किया गया है आधुनिकता की प्रक्रिया से समझौते का प्रयास है। इनको पारम्परिक मूल्यों के सम्बन्ध में एक नया कदम का उठाया तो गया है, परन्तु यह उठकर समाज सेवा में गिर जाता है। इस सम्बन्ध में विवाह के स्थान पर मेहता तथा मालती में मित्रता की स्थापना नये मानवीय सम्बन्ध को भी इंगित करता है जिसकी कल्पना प्रेमचन्द विनय सोफिया [ रंगभूमि ] में नहीं कर सके थे। इस तरह 'गोदान' से हिन्दी उपन्यास अपनी पुरानी परम्परा से अलग होने लगता है और इस अलग होने में आज के उपन्यास का संकेत मिल जाता है। इसलिए आज के उपन्यास की नींव [१९३६] के पहले पड़ चुकी थी और पहले इसलिए कि गोदान का लेखन-काल [१९३४ से १९३६] तक माना गया है और इस काल में जैनेन्द्र की सुनीता [१९३४] और त्यागपत्र [१९३७] का लेखन भी हो चुका था जिसमें आधुनिकता की चुनौती को नारी-कल्पना के रूप में स्वीकारा गया है। इन कृतियों में आधुनिकता की प्रक्रिया नारी-सम्बन्धी मान्यताओं के विरोध में गतिशील है। इन मान्यताओं पर जैनेन्द्र ने रहस्यवाद का झीना आवरण डाल दिया है परन्तु इसके भीतर झाँकने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि लेखक आधुनिकता की चुनौती को अपने परिवेश में स्वीकार अवश्य करते हैं। जैनेन्द्र की नारी और प्रेमचन्द की नारी में जो अन्तर पाया जाता है वह इस चुनौती का परिणाम है। इस तरह आज का उपन्यास अपनी परम्परा में

१ 'गोदान', के दसवाँ संस्करण, पृ० ३१४।

टूटने का आभास देने लगता है। इसका मूल कारण आधुनिकता की प्रक्रिया है जो 'आत्मोन्मुख यथार्थ' या आत्म तथा यथार्थ में सामंजस्य को भंग करने के लिए है और यथार्थ के सम्मुख होने के लिए उपन्यासकार को बाधित करती है। यथार्थ क्या है? यह एक स्वतन्त्र प्रश्न है जिसका उत्तर तो बार-बार दिया गया है, लेकिन हर बार यह अधूरा रह गया है।

२ यदि आज के हिन्दी उपन्यास का सूत्रपात गोदान से होता है तो इस कृति से लेकर आज तक के उपन्यास की राह से गुजरना आवश्यक है। इस तीस साल की अवधि में [१९३४–१९६४] सत्ताईस उपन्यासों के आधार पर इसका मूल्यांकन करना इस निबन्ध का उद्देश्य है। इन उपन्यासों का चयन मेरा है और इस तरह के हर चयन की अपनी सीमा होती है जिसका दोषी मुझे ठहराया जा सकता है। इसकी राह से गुजरने की बात पर बल देना इसलिए आवश्यक है कि हिन्दी उपन्यास उन मंजिलों से नहीं गुजरा है, उन अनुभूतियों से सम्पन्न नहीं है उन प्रयोगों से नहीं निकला है जिनसे पाश्चात्य या विदेशी उपन्यास। मुझे यह भी सन्देह है कि अभी हिन्दी उपन्यास को अपना मुहावरा भी मिला है या नहीं। रूसी उपन्यास को जिस तरह अपना मुहावरा मिल चुका है उस तरह हिन्दी उपन्यास को नहीं। इसके अतिरिक्त अभारतीय उपन्यास का उद्भव तथा विकास भी विभिन्न परिवेशों में हुआ है। इसकी विकास-यात्रा न केवल अधिक लम्बी है बल्कि अधिक सम्पन्न भी है। यह उपन्यास सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक जिज्ञासा को शान्त करता हुआ चेतना के गहराता हुआ चेतना धारा में बहता हुआ, बाहर भीतर में कभी सामंजस्य तो कभी विच्छेद स्थापित करता हुआ अपना पथ प्रशस्त करता रहा है। वस्तु की विभिन्नता तथा शिल्प की विविधता इसे हिन्दी उपन्यास से अलग कर देती है। हिन्दी उपन्यास में न तो सामाजिक जिज्ञासा पूरी तरह शान्त हो सकी है और न ही मनोवैज्ञानिक उत्सुकता। इसलिए हिन्दी के सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक उपन्यास की परम्परा इतनी सम्पन्न नहीं है। आज के हिन्दी उपन्यास में जब चेतन धारा की बात की जाती है तो यह विसंगत लगती है। आरोपित मूल्यों के आधार पर इसका मूल्यांकन एकांगी तथा असंगत हो कहा जा सकता है। भारतीय उपन्यास में उपन्यास की चेतना धारा को खोजना तथा आँकना हिन्दी आलोचना को पाश्चात्य आलोचना के गोद में डालना है या पाश्चात्य आलोचना का भारतीय संस्करण निकालना है। इस तरह की तुलना का एक परिणाम इस बात में लक्षित होता है कि हिन्दी उपन्यास निजी अस्तित्व तथा व्यक्तित्व त्यागकर किसी दूसरे का

विभिन्न स्तरों पर आत्मसात किया गया है। इसलिए इसका साक्षात्कार हर उपन्यास में अपने-अपने स्तर पर हुआ है। आधुनिकता के मूल में प्रश्नचिह्न लगाने की जो प्रक्रिया है उसे हर उपन्यास में अलग-अलग धरातल पर ही आँका जा सकता है। 'गोदान' में एक स्तर पर, 'शेखर : एक जीवनी' में दूसरे स्तर पर, 'बलचनमा' में तीसरे स्तर पर, 'झूठा सच' में चौथे स्तर पर और 'वे दिन' में पाँचवें स्तर पर इसे अभिव्यक्ति मिली है। इसी तरह 'सुनीता', 'उसका बचपन', 'यह पथ बन्धु था', 'मैला आँचल' आदि में आधुनिकता की चुनौती को विभिन्न धरातलों पर स्वीकारा गया है। इसलिए हर उपन्यास का मूल्यांकन इसकी राह से गुज़रकर करना अधिक संगत है। इसका कारण यह है कि उपन्यास को परखने की पुरानी कसौटियाँ तथा पुराने मानदण्ड बदल चुके हैं। आज यह अनुभव होने लगा है कि साहित्यिक विधाओं के विकास का विवेचन कविता, कहानी, उपन्यास-नाटक आदि के विकास का विश्लेषण तो शायद समाजशास्त्रीय आधार पर किया जा सकता है, लेकिन कृति विशेष का मूल्यांकन इस आधार पर सम्भव नहीं है। अब तक हर वाद का पण्डित कृति विशेष को वादगत आधार पर आँकता रहा है और कृति का सही मूल्यांकन दूर होता रहा है। यह पण्डित चाहे समाजशास्त्री हो या मनोविज्ञानशास्त्री, अस्तित्ववादी हो या समाजवादी, परम्परावादी हो या आधुनिकवादी, वस्तुवादी हो या शिल्पवादी। असल में उपन्यास में आँकना तो यह होता है कि उपन्यासकार क्या देखता है और किस तरह देखता है, क्या कहता है और किस तरह कहता है। इसके बजाय बल इस बात पर दिया जाता है कि वह इस तरह क्या देखता और कहता है, इस तरह क्या नहीं देखता और कहता। इस बात को भुला दिया जाता है कि उपन्यास में ही उपन्यास के संसार को पाना होता है, इसके सत्य को उपलब्ध करना होता है। आरोपित मान्यताओं की दृष्टि से कृति विशेष का मूल्यांकन वस्तुनिष्ठ नहीं हो पाता। यदि काफ़्का, कामू या सार्त्र की आधुनिकता के आधार पर हिन्दी उपन्यास में आधुनिकता को इस मूल्य के रूप में आँका जाता है तो यह वादगत मूल्यांकन है। आदर्शवाद की कसौटी पर किसी कृति को परखना भी आरोपित मूल्यों के आधार पर इसे आँकना होगा। आज आधुनिकता कृति को अतिरिक्त महत्त्व तो दे सकती है, लेकिन इसे कृति नहीं बना सकती। यदि आधुनिकतावाद को कृति विशेष को परखने की चरम कसौटी मान लिया जाए तो वाल्मीकि की रामायण, कालिदास के शकुन्तला, तुलसी के मानस, शेक्सपियर के नाटकों को साहित्य की परिधि से बहिष्कार करना होगा। इससे इतर गौरव का अभाव क्या है। इसलिए मूल्यांकन के शाश्वत नियमों के अभाव में

हिन्दी उपन्यासों के चयन का आत्मनिष्ठ होना और इनके प्रति प्रक्रिया का आत्मपरक होना स्वाभाविक है। इस तरह आलोचना एक सहज, वान्मुक्त, निरंतर प्रक्रिया का रूप धारण करेगी। उपन्यासकार वास्तव का सृजन करता है। इस वास्तव का स्वरूप क्या है यह भी एक स्वतन्त्र प्रश्न है। आलोचक इस वास्तव का पुन सृजन कर इसे जानने तथा पहचानने की कोशिश करता है। प्रेमचन्द 'गोदान' में जिस वास्तव का सृजन करते हैं वह आलोचक की संवेदना में ढलकर एक नया रूप भी धारण करता है। इसलिए किसी उपन्यास के उद्देश्य को निश्चित रूप से बनाना कठिन होता है, इस उद्देश्य की ओर केवल कदम उठाया जा सकता है। इसलिए आलोचना को निश्चित बनाना इसकी सोच में काठिन्य लाना होगा। जब उपन्यास की राह से गुजरने की बात की जाती है तो इसका इतना ही आशय है। केवल वस्तु या शिल्प के आधार पर किसी उपन्यास का मूल्यांकन अधूरा रह जाता है। वस्तु को इसके शिल्प से अनुभूति को इसकी अभिव्यक्ति से अलगाना मकड़ी के जाल से उसके तागों को तोड़ने के समान है जो एक-दूसरे में बुने हुए होते हैं। हर कृति या उपन्यास अपने आपमें, देश-काल में पूरा होता है। इसलिए इस जाल की रचना प्रक्रिया से अवगत होकर ही उपन्यास को पाना होता है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए भगवतशरण उपाध्याय का 'नदी के द्वीप' सम्बन्धी मूल्यांकन एक उदाहरण है। वह अज्ञेय के इस उपन्यास का विवेचन इसकी वस्तु को इसके शिल्प से अलगाकर करते हैं और इस सुन्दर पके फल में काड़े की सत्ता देते हैं। वह इसके सिद्धान्त पक्ष को समाज विरोधी और गलत साबित करते हैं और इसके कला-पक्ष को सहज और सही।[1] क्या इसमें विलास की घुटन तथा मिथुन का अकेला-पन इसके अभिन्न अंग नहीं हैं? क्या इसकी अनुभूति तथा अभिव्यक्ति में मधुर-मिलन नहीं है? वह इस बात के तो कायल हैं कि लेखक क्या कहता है और किस तरह कहता है परन्तु इस बात का घोर विरोध करते हैं कि वह इस तरह क्यों देखता है और उस तरह क्यों नहीं देखता? इसलिए अज्ञेय भगवतशरण उपाध्याय क्यों नहीं है? आलोचक की यह शिकायत कि 'नदी के द्वीप' की कला सहज है परन्तु सिद्धान्त समाज विरोधी इसकी वैयक्तिकता का व्यास व्यापक है और सामाजिकता का व्यास संकुचित आरोपित मूल्यों पर आधारित है। इस तरह का मूल्यांकन साहित्यिक न होकर वादगत ही कहा जा सकता है। इस आधार पर उन कृतियों के मूल्यांकन में भी अपनाया गया है जिनका सामाजिकता का व्यास व्यापक है परन्तु जिनका शिल्प बाहर में बिखरा हुआ जान पड़ता

१ 'विवाद के रंग', पृ० २०१।

है। लेकिन आज पुराने मानदण्ड बदल चुके हैं। उपन्यास बाहर से बिखरा हुआ परन्तु भीतर से गुंथा हुआ, बाहर से टूटा हुआ परन्तु भीतर से जुड़ा हुआ हो सकता है। यशपाल का 'झूठा सच' इस तरह का उपन्यास है। इसमें दरारें भी पड़ी हुई हैं लेकिन इतने बड़े भवन में ये आँखों से ओझल हो जाती हैं। आज भीतर से बिखरे एवं टूटे और बाहर से सुगठित उपन्यास को संश्लिष्ट रचना की सत्ता देने में संकोच होता है। उपन्यास में एक से अधिक अन्वितियाँ होती हैं जो एक-दूसरी को काटती या छूती चली जाती हैं ताकि जीवन का संग्रथित चित्र उतर सके। 'गोदान' में शहरी तथा देहाती जीवन के चित्र बाहर से दो स्वतन्त्र अन्वितियों का आभास अवश्य देते हैं परन्तु भीतर से वे जुड़े हुए हैं। इस उपन्यास के देहाती अंश को स्वतन्त्र रूप से छापने की सलाह देने का दोषी मुझे ठहराया जा सकता है। यह मेरी भूल का परिणाम है। आज उपन्यास को किसी निश्चित परिभाषा में बाँधना भी कठिन हो गया है। यह क्या साहित्य की एक साहित्यिक विधा है जिसे किसी निश्चित चौखटे में बाँधना इसलिए मुश्किल है कि यह प्रयोगशील होने चला है। आज के जीवन की जटिलता को अभिव्यक्ति देने के लिए इसका प्रयोगशील होना भी स्वाभाविक है। और *पाश्चात्य उपन्यास की प्रयोगशीलता के आधार पर हिन्दी उपन्यास को आँकना* भी असंगत है। यदि हिन्दी में उपन्यास की प्रयोगशीलता नहीं है तो इसमें प्रयोगशीलता का नितान्त अभाव भी नहीं है। यदि इसमें पाश्चात्य उपन्यास की आधुनिकता नहीं है तो इसमें आधुनिकता का नितान्त अभाव भी नहीं है। यदि हिन्दी उपन्यास को रूसी उपन्यास की तरह अपना मुहावरा नहीं मिला है तो इसके कारण हो सकते हैं। एक समाजशास्त्री यह कह सकता है कि समाज जब स्थिर अराजकता में बिखरने लगता है तब इसका महत्त्वपूर्ण उपन्यास में सम्भव नहीं होता। आज के परिवेश में बिखराव की स्थिति है। इसका आभास शायद हिन्दी कहानी की विद्युत चमक में दिया जा रहा है। कहानी की अकेली अन्वितियों तथा जिन्दगियों में इसकी अभिव्यक्ति हो रही है। उपन्यास के स्वभाव में समूह होता है और इस समूह को पकड़ने की शक्ति हिन्दी उपन्यास में अभी नहीं है। इसलिए शायद हिन्दी में लघु उपन्यास का विकास होने लगा है, परन्तु यह धारणा भी ठीक नहीं जान पड़ती। अगर लघु उपन्यास 'वे दिन' की रचना आज हो रही है तो बृहद् उपन्यास 'झूठा सच' की भी। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उपन्यास का विकास इस युग में नहीं हो रहा है जिस युग में होना था। यह युग चाहता था या नहीं, यह परिस्थितियों के [illegible] का उत्तर आर्थिक शक्तियों का दबाव है या सांस्कृतिक चेतना की परिणति —इसका

विश्लेषण समाजशास्त्रीय आधार पर शायद हो सकता है। समाजशास्त्र की उपयोगिता इस तरह की समस्याओं के मनन में तो हो सकती है लेकिन कृति विशेष के मूल्यांकन का आधार यह नहीं बन सकती। यह बात मनोविज्ञान के बारे में भी सही है। समाजशास्त्र उपन्यास के इतिहास से भी सम्बन्ध रख सकता है लेकिन उपन्यास विशेष के मूल्यांकन से इसका क्या सम्बन्ध हो सकता है। आज के उपन्यास को किसी परिभाषा में बाँधना इसलिए भी कठिन हो रहा है कि हर साहित्यिक विधा की तरह उपन्यास भी जीवन की जटिलता तथा संकुलता को अभिव्यक्ति देने के लिए अपने पुराने रूप को खोकर नए रूप को अपनाने के लिए अधीर हो उठा है। अपने पुराने चौखटों को तोड़कर लचीली विधा बन रहा है। इसके लचीलेपन का आभास निर्मल वर्मा के 'वे दिन' में उपलब्ध है। उपन्यास की रचना प्रक्रिया में भी विभिन्नता तथा विविधता का समावेश होने लगा है। कभी स्वयं चरित्रों का चयन मूल्यों के निरूपण के लिए किया गया है ['शाप्नन'] कभी स्वयं सत्य की उपलब्धि को पहले और दृश्य-कार्य तथा पात्रों को बाद में गूँथा गया है ['शेखर एक जीवनी'] कभी वस्तु का चयन पहले और उसके सत्य पर विचार बाद में हुआ है ['झूठा सच', 'गिरती दीवारें'] और कभी कथा का संयोग तथा सत्य की उपलब्धि साथ-साथ चलते हैं ['वे दिन']। इस तरह रचना प्रक्रिया का स्वरूप उपन्यास की राह से गुज़रकर ही स्पष्ट होता है। इनमें कौन सी रचना की पद्धति श्रेय है और कौन-सी हेय—यह कहना कठिन है। आज के उपन्यास में आन्तरिकता की भी अभिव्यक्ति है और बाह्यता की भी और इनका निजी मूल्य तथा महत्त्व है। इसलिए एक को वास्तविकता और दूसरी को छलना कहना स्वयं को भुलावे में डालना होगा। व्यष्टि-सत्य तथा समष्टि सत्य दोनों एक-दूसरे के साधक भी हैं और बाधक भी। इनमें समन्वय लाने का प्रयास भी है ['बूँद और समुद्र'] और सह अस्तित्व की स्थिति भी है ['वल्चनमा' और 'नदी के द्वीप']। इसलिए कभी बात वैयक्तिक सामाजिकता की की जाती है कभी सामाजिक वैयक्तिकता की, कभी नदी और द्वीप की तो कभी बूँद और समुद्र की। असल बात व्यष्टि तथा समष्टि में नए संतुलन की खोज की है जो आज नष्ट हो चुका है। वास्तविक समस्या आत्म सत्य और वस्तु-सत्य में नए सामंजस्य की है जो आधुनिकता की प्रक्रिया के फलस्वरूप खो गया है। इसलिए आज नए सन्दर्भों, नए धरातलों, नए स्वरों नये मूल्यों नए प्रयोगों आदि की पुकार है। आधुनिक जीवन में जो अकुलाहट छटपटाहट कसमसाहट है इस आदि की अभिव्यक्ति मिल रही है और आदि इसलिए कि इसकी समग्रता को आज के उपन्यास में अभी तक समेटा नहीं गया

है। यदि आज के हिंदी उपन्यास को उपन्यास की संज्ञा न देकर उपन्यास की सम्भावना कहा जाए तो अधिक संगत होगा।

२ आज के हिन्दी उपन्यास में जहाँ जीवन की जटिलता तथा संकुलता की अभिव्यक्ति देने का प्रयास है वहाँ मोहभंग की अनुभूति को विरासत में पाकर इससे जूझने तथा इसे झेलने के भी प्रयत्न हैं और इससे उबरने के संकेत भी हैं। इस विरासत का विस्तार भी हुआ है और संकोच भी, इसका पोषण भी हुआ और शोषण भी। इसके मूल में आधुनिकता की प्रक्रिया है जो जीवन की मान्यताओं पर प्रश्न चिह्न लगाकर इसे जाँचने की प्रेरणा देती है। इसकी चुनौती को कभी संवेदना के स्तर पर स्वीकार किया गया है [ 'नदी के द्वीप', 'यह पथ बन्धु था' ] तो कभी वैचारिक धरातल पर [ 'झूठा सच', 'संन्यासी' ] कभी इस चुनौती से छायावादी भूमि पर समन्वय स्थापित किया है [ 'बाणभट्ट की आत्मकथा' ] तो कभी समझौता [ 'सागर लहरें और मनुष्य' ] कभी इसे व्यष्टि-सत्य के स्तर पर *आत्मसात किया गया है [ वरे कूल का पौधा ] तो कभी समष्टि-सत्य के स्तर* पर [ 'कब तक पुकारूँ' ]। इस तरह आधुनिकता प्रायः गतिशील और कभी कभी स्थितिशील होने का आभास देती है। हर उपन्यास में आधुनिकता का साक्षात्कार अपने-अपने स्तर पर हुआ है। आज के उपन्यास की विकास यात्रा प्रायः दो दिशाओं में उपलब्ध है—एक दिशा में उन कृतियों को लिया जा सकता है जिनमें जीवन तथा जगत् का चित्रण तथा मूल्यांकन प्रायः समष्टि सत्य समष्टि-यथार्थ समष्टि मंगल के धरातल पर हुआ है और दूसरी दिशा में वे कृतियाँ आती हैं जिनमें जीवन तथा जगत् को जाँचने तथा परखने की कसौटी प्रायः व्यष्टि-सत्य व्यष्टि-यथार्थ तथा व्यष्टि हित की है। इसका यह आशय नहीं है एक का दूसरे में नितान्त अभाव है। प्रश्न केवल बल देने का है। नागार्जुन ने आधुनिकता की चुनौती को समष्टि-सत्य के धरातल पर स्वीकारा है और अज्ञेय ने व्यष्टि-सत्य के स्तर पर। अन्य उपन्यासकारों की कृतियों में भी इन दो परस्पर विरोधी दिशाओं का आभास मिलता है। इन सबकी कृतियों को संश्लिष्ट रचनाओं की संज्ञा देना भी कठिन है। इनमें दरारें तो हैं लेकिन कम। इसी आधार पर आज के हिन्दी उपन्यास की उपलब्धियों तथा सीमाओं को आँका गया है। इसकी उपलब्धि क्या है और इसकी सीमा कितनी—इसका अनुमान इन उपन्यासों की राह से गुज़रकर ही लगाया जा सकता है। इनका चयन आत्मनिष्ठ है और इस तरह के हर चयन की कमज़ोरी होती है जिसका दोष मुझ पर ठहराया जा सकता है परन्तु इस आत्मनिष्ठ चयन का आधार भी है। इन उपन्यासों में यथासम्भव तथा यथाशक्ति सामग्री

मान्यताओं का विरोध है और आधुनिकता की चुनौती का स्वीकारने का प्रयास भी। उपन्यास में इस चुनौती से जूझने का प्रयत्न लगभग १९३४ से होने लगा था—

१—'गोदान' [१९३६] 'रचना-काल १९३४ १९३६ २—'सुनीता' [१९३४] ३—'चित्रलेखा' [१९३४] ४—'त्याग पत्र' [१९३७] ५—'संन्यासी' [१९४१] ६—'शेखर : एक जीवनी भाग १ [१९४१] भाग २ [१९४४] ७—'बाणभट्ट की आत्मकथा' [१९४६] ८—'गिरती दीवारें' [१९४७] ९—'रतिनाथ की चाची' [१९४८] १०—'नदी के द्वीप' [१९५१] ११—'पथ की खोज'—दो भाग [१९५१] १२—'सूरज का सातवाँ घोड़ा' [१९५२] १३—'बलचनमा' [१९५२] १४—'गंगा मैया' [१९५३] १५—'मैला आँचल' [१९५४] १६—'चाँदनी के खण्डहर' [१९५५] १७—'बूँद और समुद्र' [१९५६] १८—'सागर, लहरें और मनुष्य' [१९५६] १९—'उखड़े हुए लोग' [१९५६] २०—'जहाज का पंछी' [१९५७] २१—'उसका बचपन' [१९५७] २२—'कब तक पुकारूँ' [१९५८] २३—'झूठा सच'—दो भाग [१९५८ १९६०] २४—'अँधेरे बन्द कमरे' [१९६१] २५—'यह पथ बन्धु था' [१९६२] २६—'शहर में घूमता आईना' [१९६३] २७—'वे दिन' [१९६४]।

इस सूची से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि तीस सालों में [१९३४ से १९६४ तक] सत्ताईस उपन्यासों की रचना एक साल में लगभग एक ही उपन्यास का ईद का चाँद बना देती है। इस साहित्यिक विधा का उतना विकास नहीं हो पाया है जितना कहानी या कविता का और इस धारणा का आधार केवल संख्यात्मक न होकर गुणात्मक भी है। आधुनिकता की चुनौती को जो *आज की कृति को अतिरिक्त महत्त्व दे सकती है इसे कृति नहीं* बना सकी कविता-कहानी ने अधिक गहरे तौर पर स्वीकार किया है। आज के उपन्यास का प्रेमचन्द के 'गोदान' से इसलिए आरम्भ किया जा सकता है कि इसमें उपन्यासकार अपनी ही सदनवादी या सुधारवादी परम्परा का खण्डन करते हैं। इससे पहले 'सुनीता' [१९३४] और 'चित्रलेखा' [१९३४] का प्रकाशन हो चुका था परन्तु 'गोदान' का रचना-काल भी १९३४ में आरम्भ होता है। *इसलिए आज के उपन्यास का मूल्यांकन 'गोदान' से लेकर 'वे दिन' तक की साहित्यिक कृतियों के आधार पर किया गया है।* हिन्दी उपन्यास की विकास-यात्रा गौरीदत्त के 'देवरानी जेठानी की कहानी' [१८७०] से शुरू होती है या श्रद्धाराम फिल्लौरी के 'भाग्यवती' [१८७७] से या श्रीनिवास दास के 'परीक्षा गुरु' [१८८२] से[1]—इसको जानकारी शोध की परिधि में

१ हिन्दी का सबसे पहला उपन्यास 'धर्मयुग', १४ फरवरी, १९६८।

आती है और यह विद्वानों का ही अधिक ध्यान दे सकती है। आज के उपन्यास से परिचित होने के लिए इनका विशेष महत्त्व नहीं है। इसके स्वरूप को पहचानने के लिए कुछ नामवर और कुछ अनाम उपन्यासों को लेना पड़ा है। इनमें आकार की दृष्टि से बड़े भी हैं [ गोदान गिरती दीवारें 'पथ की खोज' 'बूँद और समुद्र', जहाज का पंछी बब तक पुकारूँ झूठा सच ] और कुछ छोटे भी [ सुनीता त्यागपत्र रतिनाथ की चाची सूरज का सातवाँ घोड़ा काठ फूल का पौधा उसका बचपन व दिन ] जिन्हें लघु उपन्यास की संज्ञा दी जाती है। उपन्यास और भी हैं जो छूट गए हैं। यदि हिन्दी के उपन्यासों की संख्या कम होती तो इन पर शोध प्रबंधों की संख्या इतनी अधिक न होती। इनका मूल्यांकन भी अनेक दृष्टियों से हो चुका है—प्रवृत्तियों के आधार पर सामाजिक समाजवादी व्यक्तिवादी मनोविश्लेषणवादी उपन्यास का विवेचन हुआ है यथार्थ के आधार पर सामाजिक यथार्थ वैयक्तिक यथार्थ मनोवैज्ञानिक यथार्थ ऐतिहासिक यथार्थ आंचलिक यथार्थ के अन्तर्गत उपन्यास का विश्लेषण हुआ है। इनका मूल्यांकन कभी शिल्प की दृष्टि से तो कभी वस्तु की दृष्टि से कभी चरित्र चित्रण को लेकर तो कभी कथानक को लेकर कभी पाश्चात्य उपन्यास के संदर्भ में तो कभी बंगला उपन्यास के संदर्भ में हुआ है। इस तरह आज के उपन्यास की इतनी चीर-फाड़ हुई है कि इसकी सूरत ही बिगड़ गई है इसके वास्तविक स्वरूप को पहचानना कठिन हो गया है।

४ इन सत्ताइस उपन्यासों की राह से गुजरने से यह स्पष्ट हो जाता है कि आज के उपन्यास का विकास दो दिशाओं में होता आया है आधुनिकता की चुनौती को दो विभिन्न धरातलों पर स्वीकारा तथा आत्मसात किया गया है। 'गोदान बलचनमा गंगा मैया मैला आँचल बूँद और समुद्र बब तक पुकारूँ झूठा सच आदि उपन्यास आधुनिकता की चुनौती को प्रायः सामाजिक स्तर पर स्वीकारते हैं और समष्टि-सत्य की दृष्टि से पुरानी मान्यताओं पर प्रश्न चिह्न लगाते हैं। इनमें आधुनिक संवेदना की भी भिन्नता है, आधुनिक सचेतनता में मौलिक एवं सूक्ष्म अन्तर भी पाया जाता है। इसका निरूपण कृति विशेष के विवेचन में किया जाएगा। इसी तरह दूसरी दिशा के वे उपन्यास हैं जिनमें आधुनिकता का साक्षात वैयक्तिक स्तर पर उपलब्ध है और जिनमें पुराने मूल्यों पर प्रश्न चिह्न व्यष्टि-सत्य की दृष्टि से लगाया गया है। पहले सामाजिक परम्परा के उपन्यासों का मूल्यांकन इसलिए अपेक्षित है कि हिन्दी-उपन्यास में इसको अभिव्यक्ति विरासत में मिली है। आज के उपन्यास में दोनों दिशाओं के उपन्यास का समानान्तर विकास होता रहा है। गोदान तथा सुनीता की

रचना एक ही काल म हुई थी। प्रमचन्द न खत्री-गहमरी की परम्परा का दाय म पाया था। इस उपन्याम परम्परा म विचित्र सयागा, असगत परिस्थितिया, नीरस भाषणा तथा विवरणो का उद्देश्य एक यातनावद्ध लक्ष्य की उपलब्धि है। यह लक्ष्य चाहे चन्द्रकान्ता हो या सामाजिक सुधार वेश्या का उद्धार हो या किसान की गरीबी का परिहार। वह गोदान म आकर अपनी आश्रमवादी आस्था को खो बैठते हैं लेकिन मानव के भावी विकास म इनका विश्वास अभी कायम है। इनकी सवेदना मे अन्तर अवश्य पडा है, रचना प्रक्रिया म सजगता का पुट भी गहरा अवश्य हुआ है परन्तु आधुनिकता की चुनौती को खुलकर स्वीकारने म वह सफल नही हो पाए हैं। इस बात की झलक मालती की समाज-सेवा म मिल जाती है। वह आधुनिकता की चुनौती का महाजनी सभ्यता के विरोध म स्वीकार करते हैं जिसकी काली छाया शहर तथा गाँव के जीवन पर मँडराने लगती है। यह इनकी गाधीवादी आस्था को गिरा देती है। इस सभ्यता के व्यापक प्रभाव का चित्रित करने के लिए प्रमचन्द न गोदान म दो समानान्तर कथाओ को बाँधने का प्रयास किया है। यदि खन्ना तथा तन्खा शहर के महाजन हैं तो दातादीन, झीगुर, दुलारी, नाकराम, पटश्वरी तथा मगरू गाँव के महाजन हैं। हारी तथा उसका बडा गोबर तक महाजनी का पेशा करने से सकोच नही करते। इस विडम्बनात्मक स्थिति म लेखक के व्यग्यात्मक दृष्टिकोण का परिचय मिल जाता है। इस तरह महाजनी सभ्यता जिसका विश्लेषण उपन्यासकार न इस नाम के अपने निबन्ध म भी किया है शहरी तथा देहाती जीवन का शोषण करने लगती है। अब गाँव म पच-परमेश्वर का स्थान महाजन-परमेश्वर ने ले लिया है और उसने देहाती समाज की रीढ को तोड दिया है। प्रमचन्द के आँसू सूख चुके हैं और इनके सूखने पर इनकी दृष्टि साफ होने लगती है। इसका परिचय हारी के जीवन म मिल जाता है। वह आत्म-सम्मान को सुरक्षित रखने के लिए सघर्षशील है, परन्तु इस सघर्ष म वह छल भी कर सकता है झूठ भी बोल सकता है अपनी लडकी को भी बेच सकता है। वह सन का गाला भी कर सकता है, रूई म बिनौले भर सकता है। हारी की मर जाद सामन्ती व्यवस्था का नाम है जिनम सयुक्त परिवार, पचायत धर्म, खेती आदि को गिना सकता है। एक अजगर की तरह खेती हारी को निगल जाती है। इसके अतिरिक्त बिरादरी का शासन दण्ड का भुगतान, गाय का अन्त, अपने ही खेत म हारी का चाकरी व्यक्तिगत घटनाएँ नही हैं सामूहिक तथा सामाजिक घटनाएँ हैं। इस तरह सामन्ती तथा पूँजीवादी सस्कृति किसान को पराभूत कर देता है। हारी का गोदान केवल एक किसान का गोदान नही है,

पूरे किसानी समाज का गोदान है, प्रेमचन्द की गांधीवादी आस्था का गोदान है। होरी के सामने भविष्य अहंकार की तरह है। उसकी चेतना शिथिल हो चुकी है, उसके पतन की सीमा सीमाहीन है। इस स्थिति से उबरने के लिए प्रेमचन्द किसी राह का सुझाव नहीं देते। इन्होंने अनुभव कर लिया है कि सत्याग्रह से अन्याय का दमन नहीं हुआ है। मनोहर और बलराज पहले ही मर चुके हैं इनकी समाधि पर होरी भी अपना दम तोड़ चुका है। बलराज और गोबर का विद्रोह नपुंसक सिद्ध हुआ है। माधव और घीसू [ कफन ] औरत की ताजा लाश छोड़कर ताड़ी पीने चले गए हैं। हल्कू [ पूस की रात ] भी अपना खेत छोड़कर अंधकार में भटकने लगा है। अब देवता बनना तो क्या इन्सान बनना भी कठिन हो गया है। इसका कारण सामन्ती तथा महाजनी सभ्यता के बन्धन हैं जो मानवीयता की हत्या करने में सफल हुए हैं। इस तरह प्रेमचन्द आधुनिकता का साक्षात करने में सफल होते हैं। वह सेवासदन से चलकर गोदान' तक आते आते आधुनिकता की चुनौती को स्वीकारने की साक्षी देते हैं। इनकी मनस्था में जो विकास हुआ है इनकी रचना प्रक्रिया में जो परिष्कार आया है वह इस चुनौती का परिणाम है। वह सामाजिक यथार्थ के धरातल पर आधुनिकता को आत्मसात करने का आभास देते हैं। इसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति गोदान में उपलब्ध है। इसलिए आज के हिन्दी उपन्यास का सूत्रपात इस कृति से माना जा सकता है। इसके बीज तो इनके अन्य उपन्यासों में बिखरे हुए हैं इसके अंकुर भी इनमें फूटे हैं परन्तु इसकी चरम परिणति गोदान में ही हुई है। चतू अहीर ['सेवासदन ] का जीवन दान मनोहर और बलराज का संघर्ष [ प्रेमाश्रम ] सूरदास [ रंगभूमि ] का बलिदान अकारथ हो गया है। यह सत्याग्रह की नाकामियों का पराजय है। प्रेमचन्द महात्मा गांधी से पहले गांधीवादी थे परन्तु इनका गांधीवाद आधुनिकता से टकराकर चूर चूर हो जाता है इनकी आस्था डगमगाने लगती है इनकी दृष्टि साफ होने लगती है और वह गांधीवाद से समाजवाद की ओर उन्मुख होने लगते हैं। यह आधुनिकता की चुनौती का परिणाम है जिसके मूल में वैज्ञानिक दृष्टि है जो इस काल में सामन्ती तथा पूँजीवादी संस्कृति की मान्यताओं पर प्रश्नचिह्न लगाने के लिए बाधित करती है। इस तरह वह समसामयिकता के माध्यम से आधुनिकता को अभिव्यक्ति देते हैं और सामाजिक यथार्थ के धरातल पर इसे स्वीकारते हैं।

५ जैनेन्द्रकुमार ने आधुनिकता की चुनौती को वैयक्तिक स्तर पर स्वीकारा तथा नकारा है घर तथा बाहर व्यक्ति तथा समाज की समस्या को पति-पत्नी प्रेमी के पारस्परिक सम्बन्ध के आधार पर उठाया है और इसके

निरूपण म आधुनिकता का परिचय भी दिया है। प्रेमचन्द के उपन्यासो म जहा प्रेम की समस्या को विवाह के पहले उठाया गया है विनय-सोफिया ['रगभूमि'], मेहता मालती ['गोदान'] के प्रेम की परिणति विफलता तथा मैत्री म होती है जैनेन्द्रकुमार की कृतियो म वहा इस समस्या को विवाह के बाद उठाया गया है। इनके लगभग सभी उपन्यासो में पति पत्नी प्रेमी का योजनाबद्ध त्रिकोण इसकी रचना प्रक्रिया की यान्त्रिकता को सूचित करता है। प्रेमचन्द की आधुनिकता मालती मेहता मैत्री की सीमा से आगे जाने की अनुमति नही देती, वह प्रेम की परिणति को विवाह म देखना चाहते है नारी की नियति को पत्नी या मा के रूप म आँकते है, जबकि जैनेन्द्र की आस्था विवाह में न होकर प्रेम म है। प्रेम एक वैयक्तिक मान्यता है और विवाह एक सामाजिक धारणा प्रेम बाहर का प्रतीक है और विवाह घर का। जैनेन्द्र नारी को मात्र नारी समझते हैं, उसका पत्नी होना उतना महत्त्व नही रखता जितना उसका प्रेयसी होना। इस सघर्ष म नारी टूट जाती ह, वह न घर की रहती है और न ही बाहर की। इस समस्या को उठाकर वह इस समस्या के रूप म ही छोड देते है इसका समाधान नही दे पाते। इस तरह प्रश्न के महत्त्व को प्रश्न म ही आका जा सकता है। जैनेन्द्र जब इस समस्या पर अपना दार्शनिक तथा आध्यात्मिक रग चढाने का प्रयास करते हैं तब वह आधुनिकता की चुनौती को नकारने की साक्षी देते हैं। इसलिए आधुनिकता की प्रक्रिया जैनेन्द्र के उपन्यासो म गतिशील तथा स्थिति शील होने का परिचय देती है। जहाँ यह गतिशील है वहा इसकी अभिव्यक्ति सवेदना के स्तर पर है और जहा यह स्थितिशील है वहा इसका निरूपण चिन्तन के धरातल पर है। जैनेन्द्र की सवेदना तथा चिन्तना म तनाव एव खिंचाव की स्थिति है जो इनकी रचना प्रक्रिया को सचालित करती है। सुनीता रात के समय सुनसान जगल म हरिप्रसन्न के सामने निरावरण होकर भी स्वय को श्रीकान्त की पत्नी मानती है। पति के लिए तन और प्रेमी के लिए मन देने की समस्या नारी को तनाव की स्थिति म डाल देती है। और बार बार जब इसका निरूपण होने लगता है तो यह लेखक की व्यक्तिगत समस्या का रूप धारण करने लगती है या उसके अनुभूत का आभास देने लगती है। वह नारी के सतीत्व को इसके कल्पित रूप म अस्वीकार करते हैं और उसके नारीत्व को निरूपित करना चाहते हैं। इस निरूपित करने म वह अपने चिन्तन की सकुलता का ही परिचय दे पाते हैं। चोर और चोरी के आधार पर प्रेमचन्द तथा जैनेन्द्र का जीवन दृष्टि म अन्तर को इस तरह स्पष्ट किया जा सकता है। किसी ने चोरी की है। प्रेमचन्द के अनुसार— 'चोर बुरा नहीं है, चोरी

बुरी है, चोर साधु बन सकता है और प्राय बन भी जाता है।' जनेन्द्र के अनुसार—'चार कौन है ? चारी क्या होती है ? चार चारी म पारस्परिक सम्बन्ध क्या है ? इस सम्बन्ध म हिंसा अहिंसा का कितना अश है ? और अन्तिम रूप म मन सब तन्तुजाल है जिसम मकड़ी पैगम्बर निकल नहीं सकता यह उसकी नियति है। इस तरह का चिन्तन जनेन्द्र क उपन्यासों की रचना प्रक्रिया म उस तरह दरारें डाल देता है जिस तरह यह इनकी कहानी की रचना प्रक्रिया को कथात्मक निबन्ध या निबन्धात्मक कहानी का रूप देता है। इसका परिणाम यह निकला है कि 'सुनीता' त्यागपत्र आदि की मूल समस्या उलझकर अस्पष्ट हो जाता है। सुनीता म मूल समस्या हिंसा और अहिंसा के जय-पराजय की है या घर और बाहर म पारस्परिक संघर्ष की है या सनातन या नारीत्व म पारस्परिक विरोध की है या नारी क बन्धन तथा उसकी मुक्ति की है या व्यक्ति तथा समाज का है या स्वच्छन्द प्रेम तथा विवाह की है—यह लेखक क उलझ हुए चिंतन का परिणाम है। वास्तव म जनेन्द्र आधुनिकता के सम्मुख होकर इससे विमुख हो जाते हैं द्वन्द्व म पड़कर उलझ जाते हैं। इसलिए वह नारी क तन मन की बात करने लगते हैं। इनका विभाजित व्यक्तित्व इस द्वन्द्व का परिणाम है। सुनीता क लिए घर भी महत्त्व रखता है और बाहर भी पति भी महत्त्व रखता है और प्रेमी भी। श्रीकान्त को लेकर सरल-सीधा पति प्रेम है और हरिप्रसन्न को लेकर स्वच्छन्द एकांगी प्रेम है। वह दोनों की ओर लपकती है दोनों म चयन नहीं कर पाती और दुविधा म टूट जाती है। वह अपना समस्त लुटाकर भी हरिप्रसन्न के साथ नहीं जा पाती या फिर हरिप्रसन्न वस्तुस्थिति स पलायन कर जाता है। सुनीता के मन म अनुताप की भावना भी नहीं है। जनेन्द्र आधुनिकता की चुनौती का सीमित रूप म इसलिए स्वीकारते हैं कि वह इस पर अन्त म रहस्य का आवरण डाल देते हैं। वह विवाह क बन्धनों को तोड़कर इसकी मान्यताओं का तिरस्कार कर नारी क अधिकार को स्थापित कर पुन जगल म इसका परित्याग कर वस्तुस्थिति म भागने की कोशिश करते ह। इस तरह की दुविधा असफलता का परिणाम भी हो सकती है। इनका स्वच्छन्द प्रेम छायावादी बोध की देन होने का आभास देता है। इस दमित वासनाओं का विस्फोट भी कहा जा सकता है जिसकी चरम अभिव्यक्ति त्यागपत्र की करुण कथा म उपलब्ध है। दयाल का जजी क पद स त्यागपत्र देना और हरिद्वार म विरक्त जीवन बिताना अतृप्त जीवन की परिणति है। मृणाल अठारह साल तक यातनाओं को सहनकर एक भिन्न जीवन की समस्त वेदना एव सताप को लिये ससार म चल देती है। दयाल क

जीवन पर इस समाचार का इतना गहरा आघात लगता है कि वह विरक्त जीवन बिताने लगता है। जैनेन्द्र इस लाला पर सोचते ही रह जाते हैं, कुछ पार नहीं पाते, कुछ भेद नहीं पाते।[1] इस दृष्टि से आत्मपीडन का सिद्धान्त है या पर-पीडन का गांधी-नीति है या हिटलर-नीति, आत्म व्यथा का निरूपण है या अभुक्त भावना का चित्रण अहिंसावाद का पोषण है या विषम विवाह का विरोध—यह इतना महत्व नहीं रखता जितना यह महसूस करना कि कहीं कुछ गडबड है। कहीं क्या? सब गडबड-ही-गडबड है। सृष्टि गलत है। समाज गलत है इससे जरूर कुछ होना होगा, जरूर कुछ करना होगा।'[2] इस प्रतिक्रिया में आधुनिकता की झलक है, पर 'क्या करना होगा' में इसका निषेध भी है। इसका उत्तर गांधी नीति अहिंसा तथा तपस्या के निरूपण में किया गया है। मृणाल का कोयलेवाले के साथ भाग जाना और समाज का नाडने फोडने से इन्कार करना, इससे अलग होकर उसका स्वयं टूट जाना आधुनिकता से पलायन है। उपन्यास में स्थिति की अस्वीकृति तथा इसमें पलायन उस युग चेतना का परिणाम है जिसमें आधुनिकता की प्रक्रिया दुविधा से ग्रस्त होकर कभी गतिशीलता कभी स्थितिशील रूप में व्यक्त है। इसका चित्रण तथा निरूपण नारी पात्रों के माध्यम से किया गया है जो उपन्यास के केन्द्र में है। इनके लगभग सभी उपन्यासों में मूल समस्या प्रेम और विवाह की है व्यक्ति और समाज में पारस्परिक विरोध की है। इस समस्या को उठाने में जैनेन्द्र आधुनिकता का परिचय देते हैं परन्तु इसके निरूपण में वह इसका निषेध करने में ही सफल हुए हैं। वह व्यक्ति को मूलत व्यक्ति के रूप में मान्यता देते हैं। इनके उपन्यासों की रचना प्रक्रिया से यह स्पष्ट हो जाता है कि इनकी नारी दो पुरुषों के बीच डोलती रहती है वह आधुनिकता तथा मध्यकालीनता की दुविधा से ग्रस्त है। रचना विधान की दृष्टि से इनके लगभग सभी उपन्यासों में ['परख', सुनीता' कल्याणी', 'त्यागपत्र', 'सुखदा', विवर्त' 'व्यतीत'] त्रिकोण की स्थिति योजनाबद्ध है। इस आधार पर जैनेन्द्र उस गृहिणी के समान हैं जिसके पास पकवान तो थोडे हैं लेकिन वह परसने में कुशलता का परिचय अवश्य देती है। जगदीश पाण्डेय इनको चीर हरण का कथाकार इस लिए कहते हैं कि इस योजनाबद्ध त्रिकोण की स्थापना में प्राय नारी ही अपना चीर हटा देती है और बाद में वियोग का उपदेश देने लगती है।[3] इस

१ 'त्यागपत्र', पृ० ७२।

२ 'वही', पृ० ८०।

३ जगदीश पाण्डेय, 'कहानीकार जैनेन्द्र', पृ० ८८।

का खण्डन तथा सामाजिकता का खण्डन है व्यष्टि-सत्य के स्तर पर आधुनिकता की स्वीकृति है। इस वक्तव्य का दूसरा पक्ष नियतिवाद से सम्बद्ध है। जब व्यक्ति का परिस्थितियों का दास कहा गया है तब उन सामाजिक बन्धनों तथा प्राकृतिक नियमों का संकेत किया गया है जिनके अधीन होकर उसे जीवन जीना पड़ता है। उसकी विवशता का सामाजिक विधान में खोजने की बजाय उसकी नियति में आँका गया है। इस उपन्यास के केन्द्र में चित्रलेखा है जिसका सबल व्यक्तित्व योगी तथा भोगी के जीवन का संचालन करता है। इनके परस्पर-विरोधी चरित्रों का नाटकीय शैली में उद्घाटित किया गया है जो इस उपन्यास की शिल्पगत विशेषता है। इस तरह चित्रलेखा, जो असाधारण व्यक्तित्व से सम्पन्न है, जिसका 'वाह्यान्तर अनूठी सुषमा से सुवासित है', जिसके लिए जीवन एक कलि है जो बीजगुप्त तथा कुमारगिरि दोनों पर हावी है जो अपने रूप तथा शक्ति के बल पर पाटलिपुत्र के युवा हृदयों को स्पन्दित करती है जिसके लिए जीवन एक स्थिति न होकर एक गति है जो योगी के अहंभाव को तोड़ने के लिए स्वयं टूट जाती है। वह अनुराग तथा विराग में डालकर भोगी तथा योगी में अनुरक्त तथा विरक्त होकर आत्मिक प्रेम को पाने के लिए अपना जीवन को विलीन कर देती है। कृष्णादित्य के प्रेम में केवल आत्म विस्मरण था बीजगुप्त के प्रेम में मादकता थी, कुमारगिरि के प्रेम में अहंभाव की तुष्टि थी असंभव को सम्भव बनाने की लालसा थी विजय पाने की कामना थी। चित्रलेखा आत्मा के पावन सम्बन्ध में प्रेम को पाना चाहती है। यह दृष्टिकोण छायावादी बोध की देन है। इस बोध में एक ओर आधुनिकता की स्वीकृति है तो दूसरी ओर इससे पलायन भी है। यह स्थिति छायावादी काव्य की भी है जिसके मूल में एक ओर मध्यकालीन बोध का विरोध है तो दूसरी ओर आधुनिकता से समन्वय स्थापित करने का प्रयास भी है। यह समन्वय आदर्श वादी धरातल पर ही सम्भव हो सकता है। बीजगुप्त का कथन है— व्यक्तित्व जीवन में प्रधान है और व्यक्ति से ही समुदाय बनता है। जो व्यक्ति वर्जित है उस व्यक्ति को समुदाय का भाग बनाना अपना ही अपमान करना है।" इस व्यक्तिमूलक स्वर में सामाजिक विधान का निषेध है और आधुनिकता की प्रक्रिया की स्वीकृति है। इस तरह के वक्तव्य कभी तो कृति का अभिन्न अंग हैं और कभी आरोपित होने का आभास देते हैं। आरोपित कथन इसकी सश्लिष्टता को भंग भी करते हैं। इन आरोपित वक्तव्यों के अनेक उदाहरण बीजगुप्त तथा कुमारगिरि के दो शिष्यों के वाद विवाद में उपलब्ध हैं जिनका उद्देश्य पात्रों के विभिन्न दृष्टिकोणों का निरूपित करना भी है। नारी क्या

है ? सुख-दुख क्या है ? इन प्रश्नों पर वाद विवाद कृति मे दरारें डाल देता है इसके नाटयात्मक सतुलन को ठेस पहुचाता है। उपन्यास के अत म चित्रलेखा और बीजगुप्त का भिखारी बनकर जीवन से पलायन करना रामाटिक बोध का परिणाम है व्यक्तिमूलक जीवन दृष्टि की देन है आधुनिकता को अस्वीकृति है। इस तरह उपन्यास का अथ आधुनिकता की स्वीकृति और इसकी इति आधुनिकता की अस्वीकृति म होती है।

७ इलाचन्द्र जोशी की उपन्यास-कला जिसे मनोवैज्ञानिक की सज्ञा दी जाती है, आधुनिकता को वैचारिक स्तर पर आत्मसात किये हुए है। इसका परिणाम यह निकला है कि इसकी वस्तु तथा इसके शिल्प म सामजस्य का अभाव है। इसका शैली इसकी वस्तु को वहन करने की शक्ति से वचित है। इसलिए जोशी प्राय मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार की अपेक्षा मनोविश्लेषण के कथाकार का आभास देने लगते हैं। इ होंने पाश्चात्य मनोविज्ञान के सिद्धान्तो को सवेदना की बजाय चिन्तन के स्तर पर स्वीकार कर चरित्र चित्रण आदि म इनका उपयोग किया है। इसलिए इनके उपन्यासो म मनोविज्ञान के हर स्कूल के सिद्धा तो को खोजा तथा आका गया है—फ्रायड, एडलर तथा युग की मा यताओ के प्रभाव का निरीक्षण किया गया है जिससे इनके कृति-पक्ष का मूल्याकन नही हो पाया है। मनोविज्ञान आधुनिकता की तरह आज कृति को अतिरिक्त महत्त्व तो दे सकता है लेकिन इस कृति नही बना सकता। इनके चरित्र चित्रण म किस मनोविज्ञान का कितना अश है किस सिद्धान्त की कितनी मात्रा है—इस कसौटी पर इनके उपन्यास को परखना इसका मूल्याकन आरोपित मूल्यो के आधार पर करना है। इसी तरह इसका नायक हीनता की भावना स सचालित है या काम वासना स परिचालित—यह इसके व्यक्तित्व को समझने के लिए सहायक तो हो सकता है, परन्तु इस भी कृति के मूल्याकन का आधार बनाना असगत है। उपन्यास मे एक स अधिक अन्वितियो का सगम होता है जो इस कहानी की विधा स अलगाता है। कहानी म एक ही अन्विति होती है। उपन्यास की अन्वितियो म यदि सामजस्य का अभाव है या इनम दरार हो जाती है तो इसे एक सफल कृति या सफल कृति की सज्ञा देना कठिन है। कृति की सफलता इसके सश्लिष्ट रूप म आकी जा सकती है। अधिक-से-अधिक इस एक सम्भावना के रूप म ही आका जा सकता है। जोशी की उपन्यास कला का मूल्य मनोवैज्ञानिक उपन्यास को एक सम्भावना रहा है। घृणामयी [१९२९ ३०] स लकर जहाज का पछी [१९५७] तक इनके उपन्यासो म व्यक्ति के आन्तरिक जगत् का विश्लेषण तथा विवेचन है। प्रेमचन्द की

उपन्यास कला में जिस प्रकार पात्रों के बाह्य तथा सामाजिक पक्ष पर अधिक बल दिया गया है उसी प्रकार जोशी के उपन्यास-साहित्य में इनके आन्तरिक तथा वैयक्तिक पक्ष की चीर फाड़ की गई है। उपन्यासकार की धारणा है कि पूँजीवादी संस्कृति का परिणाम व्यक्ति के अहंभाव को स्फीत करने में हुआ है। इसका दूसरा परिणाम सुधारवादी तथा आदर्शवादी दृष्टिकोण के विकास में लक्षित होता है। इनकी उपन्यास कला का उद्देश्य पूँजीवादी संस्कृति की मान्यताओं का विरोध करना है। इसलिए वह अहंभाव की अस्वस्थता और सुधारवाद की निष्क्रियता पर प्रहार करना चाहते हैं। वह भारत की नारी का इसलिए विरोध करते हैं कि वह संस्कारबद्ध है सामन्ती दासता की पोषक है, भावुकता की प्रतिमा है। उसका त्याग और बलिदान सामन्ती संस्कृति की देन है। जोशी अपनी नारी को भाभी मानते हैं जो पुरुष के अहं का शिकार नहीं बनेगी। इस उद्देश्य को लेकर वह अपने उपन्यासों में इस नारी की रचना करते हैं। इसमें कहाँ तक इन्हें सफलता मिली है—यह दूसरा प्रश्न है। इस उद्देश्य का निरूपण *संन्यासी [१९४१] के माध्यम से भी किया गया है।* इसमें कथानायक नन्दकिशोर के अहंभाव का सूक्ष्म विश्लेषण मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के धरातल पर किया गया है। अपने अहंभाव की तुष्टि के लिए वह दो नारियों के जीवन से खिलवाड़ करता है। शान्ति तथा जयन्ती का पूरा अधिकार पाने के लिए वह अपने तथा इनके विनाश का कारण बनता है। उसका प्रेम अहंभाव से संचालित है जो उसके सन्देह तथा जलन आदि के मूल में है। शान्ति पर पूरा अधिकार पाने के बाद इसका प्रेम सन्देह में बदल जाता है। जब जयन्ती इसके अहंभाव का शिकार बनती है वह भी इसके घातक अहंभाव से बौखलाकर आत्महत्या करने के लिए विवश हो जाती है। इस भयंकर घटना से नन्दकिशोर इतना विक्षिप्त विक्षुब्ध तथा अस्तव्यस्त हो जाता है कि अन्त में वह संन्यास धारण करता है। यह भी वस्तुस्थिति से पलायन है। वह नेतागिरी के चक्कर में जेल भी जाता है। यह रिक्त जीवन को भरने का विफल प्रयास है। शान्ति अपने स्नेह बन्धनों को तोड़कर सदा के लिए कहीं दूसरा आश्रय खोज लेती है। इस तरह जोशी इन पात्रों के माध्यम से यह निरूपित करना चाहते हैं कि आज के कुण्ठित, विकृत तथा अस्वस्थ जीवन का मूल कारण अहंभाव है जो नन्दकिशोर तथा जयन्ती के सन्तुलन को नष्ट कर देता है। इसके विपरीत शान्ति तथा ब्रह्मदेव इस सन्तुलन को खोकर पा लेते हैं। इस तरह संन्यासी तथा अपने अन्य उपन्यासों में जोशी व्यक्ति के दुख को उसके बाहर खोजने की बजाय उसके भीतर खोजना बेहतर समझते हैं। इस दुख का

निदान भी आज के मनोविज्ञान में खोजा गया है। इसलिए जोशी की उपन्यास-कला के उद्देश्य को यदि चिकित्सात्मक की संज्ञा दी जाए तो अनुचित न होगा। इसका कारण यह है कि उपन्यास में मनोविज्ञान का उपयोग चिकित्सा की दृष्टि से किया गया है और यह उपन्यास की रचना प्रक्रिया में बाधक भी सिद्ध होता है। प्रेमचन्द का सामाजिक उद्देश्य जिस तरह इनकी सृजन प्रक्रिया में दरारें डाल देता है, रचना की संश्लिष्टता को आघात पहुँचाता है उस तरह जोशी का मनोवैज्ञानिक उद्देश्य उपन्यास में अनावश्यक व्याख्याओं के समावेश से इसकी संश्लिष्टता को भंग करता है, अन्विति को तोड़ डालता है। अपने उद्देश्य को पूरा करने के लिए वह घटनाओं को अस्वाभाविक मोड़ भी देते हैं, रोमांचक भी बना डालते हैं। जयन्ती की आत्महत्या, नन्दकिशोर का जेल जाना तथा संन्यास धारण करना शान्ति की खोज आदि रचना के अभिन्न अंग न होकर आरोपित जान पड़ते हैं। इस तरह के आरोपित या नकली अवयव इनके अन्य उपन्यासों में भी उपलब्ध हैं। इसका मूल कारण यह है कि आधुनिकता और मनोविज्ञान की चुनौती को जोशी ने सैद्धान्तिक अथवा वैचारिक स्तर पर स्वीकारा है, संवेदना के धरातल पर सहज रूप से आत्मसात नहीं किया है। संयम रूप भी सहज हो सकता है। यदि मनोविज्ञान इनकी सृजन-प्रक्रिया का अभिन्न अंग होता तो इसकी स्वीकृति संवेदना के रूप में होती और उपन्यास में इसकी शैली मनोविज्ञान को वहन करने की क्षमता से युक्त होती। इन्होंने प्रेमचन्द के विवरणात्मक शिल्प विधान का उपयोग मनोवैज्ञानिक उद्देश्य को निभाने के लिए किया है। इससे वस्तु तथा शिल्प में आन्तरिक संगति का अभाव स्वाभाविक है। इस दृष्टि से जोशी की उपन्यास-कला को आंशिक रूप में ही मनोवैज्ञानिक कहा जा सकता है। इसका कारण वस्तु तथा शिल्प में पारस्परिक विरोध है जो 'जहाज का पंछी' में आकर कम होने का आभास देता है। इस उपन्यास तथा इनके अन्य उपन्यासों में आधुनिकता की प्रक्रिया व्यष्टि मन की दृष्टि से संचालित है जिसके आधार पर वह जीवन तथा जगत् का मूल्यांकन करते हैं। इस प्रक्रिया के मूल में मनोवैज्ञानिक दृष्टि है जो मनोविश्लेषण के सिद्धान्तों के धरातल पर व्यक्ति के नग्न स्वरूप को आँकती तथा चित्रित करती है और परम्परागत मान्यताओं का विरोध करता है। इन सिद्धान्तों के कारण और पूँजीवादी संस्कृति के फलस्वरूप व्यष्टि तथा समष्टि में जिस सन्तुलन का लोप हो गया है और जिसने मनुष्य को अधिक अकेला बना दिया है उसे पहचानने का प्रयास जोशी के उपन्यास में उपलब्ध है। वह इस रोग के चित्रण मात्र से सन्तुष्ट न होकर इसके निदान

को देना भी आवश्यक समझता है। इस निमित्त के मकत नान्ति, बल्देव आदि पात्रों के माध्यम से दिये गए हैं। इस तरह *आधुनिकता की प्रक्रिया, जिसका सूत्रपात* 'गोदान' में माह भग की अभियक्ति में होता है 'सन्यासी' में आकर व्यक्ति के वास्तविक या मनोवैज्ञानिक स्वरूप को उद्घाटित करने में व्यस्त है। यह अनुभव होने लगा है कि मनुष्य वास्तव में इतना देवता नहीं जितना पशु है और प्राय पशुता ही उसके जीवन को सचालित करने वाली नियामक शक्ति है। इस तरह अवतार सम्बन्धी मध्यकालीन धारणाएँ ध्वस्त होने लगती है और आधुनिकता की वह प्रक्रिया गतिशील है जिसके मूल में वैज्ञानिक जीवन दृष्टि है जो पुरानी मान्यताओं पर प्रश्नचिह्न लगाने के लिए बाधित करती है। इस प्रश्नचिह्न की निरंतरता में आधुनिकता की प्रक्रिया को आँका जा सकता है। हर कृति में इस कृति के माध्यम से ही पहचाना तथा परखा जा सकता है। इसलिए 'सन्यासी' में आधुनिकता की प्रक्रिया मनोवैज्ञानिक स्तर पर क्रियाशील है जबकि 'चित्रलेखा' में यह नैतिकता के धरातल पर व्यक्त है। जोशी के उपन्यास का मूल्याकन करने के लिए इस धारणा को दोहराना आवश्यक है कि आधुनिकता से ही कृति की रचना नहीं हो सकती यह इनके उपन्यास को सम सामयिक तथा अतिरिक्त महत्त्व ही दे सकती है। इसका कारण यह है कि जोशी ने इस वचारिक स्तर पर ही स्वीकार किया है। आधुनिकता प्राय इनकी सवेदना तथा सृजन प्रक्रिया का अभिन्न अंग नहीं बन सकी है और जिन स्थलों पर तथा जिन चरित्रों में यह इनकी सृजन प्रक्रिया में व्याप्त है वहाँ इनके उपन्यास का कृति पक्ष उभरता है। इसमें जोशी की उपन्यास-कला की उपलब्धि तथा सीमा को आका जा सकता है। जहा इनका मनोविज्ञान इनके सृजन पर हावी है वहा इसकी सीमा का आभास देता है और जहा यह रचना प्रक्रिया में व्याप्त है वहा यह इसकी उपलब्धि का सूचक है।

८ आधुनिकता की जिस प्रक्रिया का सूत्रपात 'गोदान' [१९३४ ३६] में हुआ था वह अज्ञेय के 'शेखर एक जीवनी' [१९४१ ४४] के दो भागों में एक नया रूप धारण करती है और हिन्दी उपन्यास इस दृष्टि से एक नया मोड लेता है। इस अन्तराल में यह प्रक्रिया *सुनीता 'त्यागपत्र' तथा 'चित्रलेखा'* आदि में विकसित तथा अविकसित सम्पन्न तथा विपन्न भी होती रहा है। इस दोहरी स्थिति का कारण यह है कि यह प्रक्रिया कभी गतिशील तथा कभी स्थितिशील होने का आभास देती रही है कभी मध्यकालीन मान्यताओं का विरोध करती रही है तो कभी इनसे सामजस्य भी स्थापित करती रही है। यह

स्थिति छायावादी कविता म भी उपलब्ध है।[1] इसलिए इसे यदि युग बोध का परिणाम कहा जाए ता अनुचित न हागा। अज्ञेय के शेखर म मध्यकालीन बाध से सामजस्य स्थापित करने का प्रयास नही है। इस दृष्टि से 'गोदान' के बाद यह उपन्यास एक नय माड का सूचक है। इस उपन्यास म आधुनिकता की चुनौती को गहर रूप मे स्वीकारा गया है। इसे सम्प्रेषित करने के लिए शिल्पगत प्रयाग भी करने पडे हैं। इसलिए 'शेखर' क निजी स्वर है जो सम तथा विषम हान का आभास देत हैं। इसके स्वरा का घार विराध भी हुआ है। यह शायद इसलिए कि इसमे व्यक्त आधुनिकता पाठक की चेतना के अनुरूप नही थी। इसके कथा-नायक शेखर पर अनेक आराप भी लगाए है—जैस शेखर घोर अहवादी तथा अराजकतावादी है, इसम सामाजिक दायित्व तथा नतिकता का अभाव है यह आत्मरत तथा आत्मकेन्द्रित है यह नास्तिक तथा नियतिवादी है इसका विद्रोह नपुसक तथा निष्क्रिय है इसकी क्रान्ति लक्ष्यहीन तथा दिशाहीन है इसका अदम्य अहकार नारी पर अधिकार पाने म लीन है, सगी बहन सरस्वता तथा मौसेरी बहन शशि भी इसक लिए सरस बन जाती है। इस तरह शेखर का व्यक्तित्व आरोपा तथा लाछना से घिरा हुआ है। इस तरह की कडी आलाचना से यह सिद्ध हो जाता है कि इसका व्यक्तित्व असाधारण है और अन्य कथा-नायको स नितान्त भिन्न है। शेखर के जीवन की मूल सवेदना तथा भावना, क्या है ? इस सम्बन्ध म भारी मतभेद पाया जाता है। इसका कारण यह हो सकता है कि हर आलाचक ने इसे निजी दृष्टि स आँका है और आरापित मूल्या क आधार पर परखा है। उपन्यासकार का भी शेखर क बारे म अपना मत है जिसन इसकी सृष्टि की है। इनका मूल रूप म कथन है कि शेखर का जीवन दशन 'स्वातन्त्र्य की खाज है।[2] यह स्वातन्त्र्य की खाज' क्या है—इस प्रश्न का उत्तर अज्ञेय क शेखर म ही खोजा जा सकता है। यदि भारतीय नीति शास्त्र की दृष्टि म इसके चरित्र म स्खलन हुआ है ता इस अनतिक नहा कहा जा सकता। अज्ञेय रूढिगत नतिकता का विराध करत हैं और इस तरह वह आधुनिकता की चुनौती को स्वीकार करत हैं। वह अपन मत का इन शब्दा म स्पष्ट भी करते हैं— "शेखर की स्वातन्त्र्य की खाज टूटती हुई नैतिक रूढिया क बीच नाति के मूल स्रोत की खोज है।[3] अज्ञेय जब व्यक्तित्व की खाज की बात करते हैं स्वातन्त्र्य की खाज पर बल दत है, मूल स्रोत की खाज को निरूपित करत

१ 'निब ध और निबन्ध', आधुनिक कविता।
२ 'आत्मनेपद', पृ० ६७।
३ वही, पृ० ६७।

है तब वह डी० एच० लारेंस की विचारधारा से प्रभावित जान पडते हैं। वह मानव की नैसर्गिक मनोवृत्तियो के आधार पर नैतिक मान्यताओ की स्वीकृति देते हैं नैतिक धारणाओ के दबाव मे नैसर्गिक मनोवृत्तियो को कुण्ठित होने से बचाते हैं। यह बौद्धिकता के प्रति अबौद्धिकता का विद्रोह है जिसके मूल मे पाश्चात्य मनोविश्लेषण के सिद्धान्त हैं। इस विद्रोह का विस्फोट पाश्चात्य देशो मे हुआ था और इस विस्फोट का परिणाम मनोवैज्ञानिक उपन्यास के विकास मे लक्षित होता है। अचेतन उपचेतन सचेतन मन से सम्बद्ध विचारधारा ने मनुष्य के नये स्वरूप को उद्घाटित किया। शेखर के व्यक्तित्व का विश्लेषण भी इस चिन्तनधारा की देन है। उसके जीवन को सचालित करने वाली शक्ति को उसकी सहज बुद्धि' मे आँका गया है—' वह बुद्धि उसकी थी, उसके उपयोग के लिए थी वह उसका मनचाहा उपयोग करता था। और वह जानता था जहा उसने अपनी सहज बुद्धि की प्रेरणा मानी वहाँ उसने उचित किया और जहाँ उसकी बुद्धि को दूसरो ने प्रेरित किया वही वह लडखडाया।'[१] यदि इस वक्तव्य को शेखर के व्यक्तित्व का एक सूत्र या मन्त्र स्वीकार कर लिया जाए तो उसके व्यक्तित्व का अधिकाश स्पष्ट हो जाता है। इसमे बौद्धिकता के प्रति अबौद्धिकता का विद्रोह लक्षित होता है। इस तरह आधुनिकता की प्रक्रिया जिसके मूल मे वैज्ञानिक दृष्टि है उपन्यास मे क्रियाशील है। शेखर की सहज बुद्धि या सहज विकास मे भय और काम बाधक हैं जो उसके अह को आघात पहुँचाते हैं। अपने अह मे वह अकेला है मूल रचना है किसी की अनुकृति नही है।[२] इसे अनेक उदाहरणो से स्पष्ट किया जा सकता है—अजायबघर से नकली बाघ से भय खाकर भागना इनमे एक है। वह भय और काम मे बाधक शक्तियो पर विजय पाने के लिए स्वभाव तथा सहज भाव से विद्रोही है। इसलिए वह जन्मजात विद्रोही है। उसका अह इतना स्फीत है कि वह किसी को पूजा नही कर सकता अपनी पूजा करवाना जानता है। उसकी काम भावना का विकास तीनो सोपानो से गुजरकर होना है—आत्मरति समलिंगी रति और विपरीतलिंगी रति। आत्मरति अपनी पूजा करवाने मे समलिंगी रति अपने सहपाठी मित्र कुमार के माध्यम से और विपरीतलिंगी रति के अनेक उदाहरण उन नारियो मे मिल जाते हैं जो शेखर के निकट आती हैं। यह सहज बुद्धि तथा सहज विकास सम्बन्धी प्रेरक दृष्टि की देन है। यदि इसे स्वीकार कर लिया जाए तो सगी बहन सरस्वती का सरस होना मा का मधुर होना मौसेरी

१ शेखर एक जीवनी १', पृ० ६३
२ वही पृ० ८६।

वह्न गनि से रति आदि पर आराप लगाना असगत हो जाता है। यह सामाजिक भय के निराकरण का परिणाम है। उसकी घणा भी उसकी 'सहज बुद्धि' की उपज है। वन् विदेगी कपडा तथा विदेशी भापा से घणा करने लगता है, मनोरजन के लिए पिजरे मे बन्द पछिया को उडा दता है। शेखर मे सामाजिक दायित्व का नितान्त अभाव भी नही है। वह उस बाल विधवा की पूजा तक करने लगता है जिसकी लडकी फूला से उसे खेलने की मनाही की जाती है, वह मलाबार की यात्रा इसलिए करता है ताकि अछूनो के गोषण का अनुभव कर सके, एक मरणासन्न नारी को पीठ पर लादकर वह अस्पताल भी पहुँचाता है निरक्षर बालको को पढाने के लिए वह रात्रि पाठशाला भी खोलता है। इनका सकेत करना इसलिए आवश्यक है कि शेखर का नितान्त आत्मरत आत्मकेन्द्रित आदि कहकर इस पर सामाजिक दायित्वहीनता का आराप लगाया गया है जो अनुचित है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उपन्यास म उसकी वयक्तिकता का आधार वज्ञानिक है और सामाजिकता का आवेगात्मक। शेखर की सामाजिकता के मूल म दृष्टि वैज्ञानिक नही है, वह आवेगमूलक है। यह दृष्टि गेखर की है या अज्ञेय की—यह प्रश्न दूसरा है। यदि उपन्यासकार कृति से तटस्थ है ता यह दृष्टि शेखर की है और यदि वह गेखर म आसक्त है ता यह अज्ञेय की है। अनय तटस्थ नहीं जान पडते वह शेखर म अनुरक्त हैं।

गेखर एक जीवनी का दूसरा भाग स्वतन्त्र हाने का आभास देकर भी पहले का ही विकास तथा विस्तार है। इसके केन्द्र म गनि है। इसके माध्यम म नतिक तथा सामाजिक समस्याओ को उठाया गया है। गनि रमन की पत्नी और गेखर की प्रेयसी है। एक-दूसरे का बहन भाई बहन म भी सम्बन्ध म अविक जटिलता आ जाती है। गेखर निगु नार तथा विनार जीवन की अनुभूतियो से सम्पन्न होकर यौवन म गनि का पूरी तरह पाना चाहता है लेकिन उस पाना चुम्बना तक ही सीमित रह जाता है। गेखर म मन म पाप भाव क सचय का गनि दूर कर देती है। स्नेह म पाप का प्रश्न ही नही उठता।[१] यह भी उस सहज जीवन के निरूपण का परिणाम है जा 'सहज बुद्धि' का दन है। इस तरह गेखर का समाज म भय, जा नरला बाघ स भय का रूपान्तर है गनि के इस वाक्य म दूर हा जाता है—'गेखर मैंने तुम्हें सदा प्यार किया है। पाप मैंने कभी नहा किया।" क्या बाघ का सहजता का निरूपित करता उपन्यास का उद्देश्य नहीं है? क्या इसम स्त्रैण के चिन्तन का पुट नहा है? क्या इस चिंतन माध्यम स गेखर स्वीकृत मान्यताओ का

१ 'शेखर एक जीवनी', पृ० २५२।

विरोध नही कर रहे है ? क्या इस विरोध म आधुनिकता की चुनौती को स्वीकारा नही गया है ? क्या नशि स शेखर का पलायन इस चुनौती की अस्वीकृति नही है ? जहाँ तक शेखर के चिन्तन का सम्बन्ध है उस पर बाबा मदन सिंह के विचारो की गहरी छाप है। शेखर की जिज्ञासा अदम्य है यह जन्म जात है। इसलिए प्रश्न की निरन्तरता बनी रहती है और इसम आधुनिकता को आका जा सकता है। इस सम्बन्ध म हिंसा अहिंसा सम्बन्धी वाद विवाद है जो उस युग की चेतना का अभिन्न अग है। इस वाद विवाद म उपन्यास की सूत्र शली और काव्यात्मक गद्य को खुलकर खेलने का अवसर मिला है— पीडा तपस्या है किन्तु असली तपस्या तो जिज्ञासा है—क्योकि वही सबसे बडी है, प्रश्नो का अन्त कहाँ—जिज्ञासा के घूट नही होते, वह तो भीम प्रवाहिनी कूल हीना नदी है स्वय जीवन की तरह दुर्निवार ।" इन सूत्रो स अज्ञेय की तत्सम शली का भी परिचय मिल जाता है। इस तरह के बाबा क भी अनेक कथन है—'अभिमान से बडा दद होता है पर दद स बडा एक विश्वास।'[१] शेखर ने बाबा से बहुत कुछ सीखा है, विनय भाव भी सीखा है। अज्ञेय के अनुसार 'वेदना एक शक्ति है जो दृष्टि देता है। जो यातना मे है वह द्रष्टा हो सकता है।'[२] शेखर का अह धीरे धीरे मजन लगता है और मँजकर अधिक चमकने भी लगता है। इसे माँजन म मोहसिन और रामजी का भी हाथ है। वह बाबा क पाँव छूने म तो अपना अपमान समझता है परन्तु उसक चले बसने क समाचार को पाकर रोता भी है। सरस्वती शारदा शाति, शशि स सम्बन्धो म शेखर के अहकार का गध अधिक है काम-वासना की कम। शारदा की आँखें मूदकर उसके रूखे केशो को सूघकर वह उसे छोड देता है। वह तपेदिक की मरीज शाति के कण्ठ को उगलियो स छूकर चला जाता है। शेखर म नदी के द्वीप के भुवन का साहस अभी नही आया है जो रेखा स उसक सम्बन्ध म लक्षित होता है। इस तरह शेखर की सन्तुष्टि नारी क स्पश मात्र से हो जाती है। उस नारी क छूने स गगा स्नान की अनुभूति तो नही मिलती लेकिन तपन को शात करने के लिए शीतल जल के पान की अवश्य मिल जाता है। उसकी सगी बहन सरस्वती उसक मन म सरस्वती से बहन और बहन स सरस हो जाती है। शशि पति स परित्यक्त होने के बाद शेखर के पास रहने लगती है, परन्तु इनम शारीरिक मिलन नही हो पाता। इनम सस्कारो की गाठ बाधक बनती है। शेखर का मन सन्देहो-सशयो से घिरा हुआ है। उसकी झिझक

१ 'शेखर एक जीवनी २' पृ० १००।
२ 'शेखर की भूमिका।